P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-8, ISSUE-4 May -2020
E: ISSN No. 2349-9435 Periodic Research

प्रयोगधर्मी उपन्यासों में सृजित प्रतिसंसार का स्वरूप

Nature of Response Created in Experimental Novels

Paper Submission: 10/04/2020, Date of Acceptance: 06/05/2020, Date of Publication: 15-5-2020

मुकेश कुमार
सहायक आचार्य,
हिन्दी विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय,
कैराना, उत्तर प्रदेश, भारत

Paper Submission: 20 /04/2020
Date of Acceptance: 23/04/2020
Date of Publication: 15-5-2020

सारांश

प्रयोगधर्मी उपन्यासों में एक ऐसे ही संसार का सृजन किया गया जो अब तक किस्सागोई शैली में रचित उपन्यासों में संभव नहीं था । इनमें हमारे अवचेतन में उपस्थित परिवेश को एक नई भाषा एवं शैली में अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास दिखाई देता है । अब तक उपन्यासकार यथार्थ के बाहरी परतों का ही स्पर्श करके मानव जीवन की संपूर्णता को पहचानने एवं सृजित करता रहा, जिसके कारण हमारे अंतरतम में छिपे सत्य की परतें, सृजित नहीं हो पा रही थी यह प्रतिसंसार अन्य संसारों से संवाद स्थापित करके सत्य की संपूर्णता को तलाशने का काम करता है इसमें मानव के सार्वभौम एवं संपूर्ण जीवन को पुनः सृजित करके उसके अतीत वर्तमान एवं भविष्य मे क्रम का उदघाटन किया गया है।

A world was created in experimental novels, which was not possible until now in novels composed in the Kisagoi style. It shows successful attempts to express the environment present in our subconscious in a new language and style. Until now, the novelist has been able to identify and create the entirety of human life by touching the outer layers of reality, due to which the layers of truth hidden in our innermost being, could not be created. In this work of searching, in order to recreate the universal and complete life of human beings, his past, present and future has been inaugurated.

मुख्य शब्द : प्रयोगधर्मिता, प्रतिसंसार, अंर्तःमन स्थितिप्रज्ञ, अभिज्ञान, निर्वात संवाद, संचार, यथास्थितिवाद, प्रतिबिम्बित, रुपायिता, नादीद, पार्श्व इतिहास बोध, संस्कृति, हमजाद मरीचिका, विड़म्बना वीभत्स ।

Experimentalism, Respondent, Inward Situation Knowledge, Knowledge, Vacuum Dialogue, Communication, Situationism, Reflected, Rupayita, Nadid, Best Historical Perception, Culture, Hamzad Marichika, Disturbance.

प्रस्तावना

सृजन और प्रगति के मूल में विरोध एवं द्वन्द्व है। इसके अभाव में सबकुछ जड़ तथा स्थिर बना रहता है। 'यथास्थिति' की अवस्थिति में 'नया' कुछ नहीं होता है। होता वही है जो हमारे सामने स्थिर एवं निष्क्रिय है। यहाँ भेद-उपभेद का अभिज्ञान भी शिथिल हो जाता है। कारण द्वन्द्व एवं विरोध के अभाव में किसी वस्तु या भाव का प्रतिपक्ष नहीं जन्मता है। और जहाँ पर प्रतिपक्ष अनुपस्थित होगा, वहाँ एक तरह से निर्वात् की स्थिति बन जाती है। निर्वात् में जो जहाँ है, स्थितिप्रज्ञ है, हलचलविहीन है, क्योंकि वहाँ प्रत्यक्षतः या परोक्षतः विरोध रूपी कोई माध्यम नहीं होता है। संवाद तथा संचार के अभाव में तो 'मनुष्य' की कल्पना ही व्यर्थ मानी गयी है। कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य के मूलतत्त्व में विरोध एवं द्वन्द्व की प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से उपस्थित होती है, जो उसके होने के लिए आवश्यक है।

इसी के आधार पर वह विविध प्रकार के संसारों को रचता है तथा उन संसारों के बीच परस्पर संवाद से एक नया संसार जन्म लेता है। ऐसा वह इसलिए करता है ताकि व्यक्ति 'सत्य' को अधिक-से-अधिक जान सके और उसे अंशतः या पूर्णतः अभिव्यक्त कर सके।

बदीउज्ज़मां लिखित उपन्यास *'एक चूहे की मौत'* में 'ग' पात्र का अध्ययन करें – लगता है वर्तमान व्यवस्था में वह घुटन महसूस करता है, वह कल्पना के माध्यम से चित्रों का नया संसार रचने का स्वप्न देखता है जिससे कि

वह अपनी एवं दूसरों की मुक्ति के रास्ते तलाश सके। वह यथास्थितिवादियों को धिक्कारते हुए कहता है – ''बहुत घिन आती है इस काम से।'' उसका मन लगता था चित्र बनाने में। कहाँ चूहे मारना और कहाँ चित्र बनाना। दोनों काम कैसे साथ-साथ चल सकते थे। 'ग' सब चूहेमारों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था। – 'तुम सब चूहे मारते-मारते खुद भी चूहे बन गये हो।''[1]

साहित्य में समाज न केवल दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है, बल्कि दर्पण के पार्श्व में नादीद (अप्रत्यक्ष) समाज की संवेदनाओं को भी रूपायित करता है। साहित्य ऐसा करने में इसलिए सफल हो जाता है कि उसकी भाषा एवं अन्य विधाओं की भाषा में अंतर होता है। साहित्य की भाषा बहुअर्थी होती है किसी भी रचित 'शब्द' की व्याख्याएँ एक से अधिक हो सकती हैं। क्योंकि रचना, विविध भाव स्थितियों एवं संवेदनाओं से गुज़रती हुई, कल्पना के योग से निर्मित होती है। साहित्य की भाषा पूर्वनिश्चित (निर्धारित) दायरे को तोड़कर, उसमें अर्थ की व्यापक संभावनाओं का सृजन करती है। परम्परा, मूल्य, संस्कृति, इतिहास, बोध का स्तर, देश-काल, विचारधारा, निष्कर्ष, भविष्य, उद्देश्य इत्यादि में द्वन्द्व से जो 'शब्द' का नया अर्थ सृजित होता है, वह कभी-कभी प्रस्तावित या प्रदत्त अर्थ को तोड़ता है, एवं नए अर्थ संसार का सृजन करता है, जो सामान्य बोध से परे का संकेत करता है। साहित्य इसी रूप में चिंरतन सृजन कार्य है। इसे **'दुनिया रोज़ बदलती है'** कविता-संग्रह की एक कविता के माध्यम से बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है –

पाँच फ़ीट लोहे की छड़
जिसे मैं माँ कहता हूँ
जिसके ऊपर लटकती है,
दो सूखी रोटियाँ।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से कवि ग़रीबी, स्वाभिमान, भूख, जीजिविषा, मातृत्व, संघर्ष, विडम्बना, संत्रास एवं उम्मीद की कथा नई भाषा के माध्यम से कहता है। यहाँ लोहा एवं रोटी की अनेक व्याख्याएँ संभव है।

'भाषा' में रचित नया संसार यथार्थ से परे नहीं होता। वह कल्पित संसार होने के बावजूद अपने सामाजिक आधार को नहीं छोड़ता है। कारण शब्द (भाषा) समाज से विलग होकर अर्थ ग्रहण नहीं कर सकता है। शब्द की भी एक सामाजिक सत्ता होती है। भाषा में रचित प्रतिसंसार, टाइप्ड संसार की मान्यताओं एवं मूल्यों को तोड़ता है। तथा प्रयोग के माध्यम से रचनाकार नई मान्यताओं को सृजित करता है। देशकाल और बदलती अवधारणाएँ नई प्रतीतियों, नई भावबोध एवं बदलते युग की संवेदनाओं को ग्रहण करने में ही नहीं, कभी-कभी उन्हें पलट देने में भी पर्याप्त सक्षम होती हैं। प्रेम के बारे में माणिक मुल्ला की धारणा नयी है – ''तुम बहुत सपनों के आदी हो और तुम्हें यह बात गिरह में बाँध लेनी चाहिए कि जो प्रेम समाज को प्रगति और व्यक्ति के विकास का सहायक नहीं बन सकता वह निरर्थक है।''[3]

रचनाएँ बदलते युग के अनुसार मूल्य एवं बोध का निर्माण करती हैं। और यह नया मूल्य-बोध जड़ हो चुकी परम्परित मान्यताओं को विस्थापित कर नया स्थान ग्रहण करता है। ***'मरीचिका'*** में समाज में फैले अंधविश्वास एवं यथार्थ से परे गप्पबाज़ी से भ्रमित लोगों को रचनाकार कर्म एवं संघर्ष की ओर प्रवृत्त करता है तथा समाज की विडम्बनाओं का उद्घाटन करता है – ''स्वर्ग की कामना करने वाले ये लोग, अपनी ज़िन्दगी से ऊबे हुए होते हैं; लेकिन प्रत्यक्ष देखने वालों का कहना है कि ये मृत्यु का इंतज़ार करते लोग आपस में बहुत झगड़ते हैं। खट्टी-मीठी चीज़ों के लिए तरसते हैं। सब कुछ कामनाएँ करते हैं, पर वे जिस अंतिम चीज़ का इंतज़ार करते हैं वह मृत्यु होती है।''[4]

रचना का सत्य अनुकूल समय पर जीवन एवं समाज के सत्य के रूप में स्थापित हो जाता है। अर्थात् संसार और इसके बरक्स रचित प्रतिसंसार में द्वन्द्व एवं विरोध के साथ-साथ आंतरिक एकता भी होती है। कह सकते हैं कि स्वप्न एवं कल्पनाएँ, कल का यथार्थ भी हो सकती है। इसी तरह ***'दिव्या'*** उपन्यास की दुनिया पूर्णतः काल्पनिक है, लेकिन हमारे यथार्थ जगत से निस्संग नहीं। इसमें वर्णित कई मूल समस्याएँ हमारे-जीवन से प्रत्यक्षतः आज भी जुड़ी हैं। स्त्री-पुरूष संबंध के विडम्बनापूर्ण पहलू पर सवाल करते हुए, अंशुमाला मारिश से कहती है – ''स्वयं दूसरे के लिए भोग्य बनकर कोई स्वयं क्या सार्थकता पायेगा आर्य!।''[5]

किसी भी सक्रिय व्यक्ति को समाज के तीन स्तरों से गुज़रना होता है – निहित, प्रदत्त एवं अर्जित। निहित जिसमें व्यक्ति जन्म लेता है। यानी व्यक्ति जन्म के साथ ही किसी जाति, धर्म, संस्कृति एवं पारिवारिक मूल्य-बोध से जुड़ जाता है। व्यक्ति चाह कर भी इनसे मुक्त नहीं हो पाता है, जाति, धर्म एवं संस्कृति में बदलाव के बावजूद वह अपनी पूर्व स्थिति से विलग होने में असमर्थ है। वह जन्म के साथ जुड़ी मान्यआतों के साथ जीने के लिए अभिशप्त है। दूसरी स्थिति प्रदत्त अनुभव की होती है। इसमें व्यक्ति को व्यक्ति सत्ता, व्यवस्था या आकस्मिकता उपलब्ध कराई जाती है। इसमें इस व्यवस्था के नियम एवं क़ायदे महत्त्वपूर्ण होते हैं, व्यक्ति की अपनी सोच, विचार या बोध को लगभग नकार दिया जाता है। व्यक्ति प्रदत्त व्यवस्था में जीने के लिए लगभग बाध्य होता है। जैसे आज का व्यक्ति बाज़ार आधारित समाज व्यवस्था में उपस्थित रहने के लिए बाध्य है। निहित एवं प्रदत्त व्यवस्था में बुनियादी अंतर यह होता है कि व्यक्ति अपनी क्षमता एवं प्रतिभा के बल पर प्रदत्त व्यवस्था को बदल सकता है, निहित व्यवस्था में परिवर्तन संभव नहीं है। क्योंकि वह स्मृति या अतीत का भी हिस्सा होता है। जब व्यक्ति प्रदत्त व्यवस्था में परिवर्तन करके एक नयी व्यवस्था का सृजन करता है तो सृजित नयी व्यवस्था उस व्यक्ति के लिए अर्जित होती है। व्यक्ति प्रदत्त व्यवस्था में संशोधन करके बदलते युग के संदर्भ में उसे व्याख्यायित करता है, उसे प्रचलन में लाने का प्रयास करता है।

उपर्युक्त विवेचन को मनोहरश्याम जोशी के उपन्यास ***'हमज़ाद'*** के संदर्भ में समझा जा सकता है। सी. सी. (तख़्तराम) और टी. के. (नारकियानी) दोनों हमज़ाद हैं। तख़्तराम उपलब्ध करायी गई व्यवस्था में सोचने के

लिए बाध्य है। नारकियानी निरंतर एक नया रास्ता ढूँढता है और तख़्तराम उसके अपनाए मार्ग पर चलता है, यही उसकी नियति बन गयी है। ''यक़ीनन टोपन मेरा हमज़ाद रहा होगा। वह मर चुका है और मैं उसकी लाश को चिता में जलता हुआ अपनी आँखों से देख चुका हूँ मगर फिर भी वह मरा नहीं है। ज़िन्दा है मेरे भीतर।''[6]

रचनाकार जिस संसार को अपनी रचना में सृजित करता है, वह यथातथ्य प्रत्यक्ष संसार का अनुकरण नहीं होता है, क्योंकि रचना के संसार में इतिहास, कल्पना, काल, युगीनप्रवृत्तियाँ, रचनाकार का बोध, स्थान, उद्देश्य आदि का योग होता है। रचना के संसार में प्रत्यक्ष समाज या व्यवस्था का ऐसा आईना होता है, जो सम्पूर्ण (बाह्य आंतरिक या अन्तरतम, अनछुआ, उपेक्षित, अदृश्य....) होता है। उसमें पूर्ण स्वतंत्रता होती है – विरोध, असहमति एवं अभिव्यक्ति की। रचनाकार प्रत्यक्ष संसार से निरंतर संवादरत रहते हुए अपना संसार रचता है, जिस कारण यह संसार किताबी होते हुए भी – वह कोरी कल्पना मात्र नहीं होता है। रचना का संसार प्रतीक, मिथक, बिम्ब, फ़ैंटेसी, अति या स्वैर कल्पना के माध्यम से रचा जाता है। इसलिए उसमें अर्थ की अनंत संभावनाएँ सृजित होती हैं। इसकी कई अवांछित विकृत, गर्हित छवियाँ भी हो सकती हैं – ''कैसा वीभत्स और डरावना दृश्य है। दूर-दूर तक ज़मीन खूर में रँगी हुई है। मरे हुए चूहों के अनगिनत टीले हैं। ख़ून में लुथड़ी हुई चूहों की लाशें, कटे हुए अंग और गन्दी आँतें उसके चारों तरफ़ बिखरी पड़ी हैं।''[7]

आधुनिक भाव बोध को न केवल समझने बल्कि इससे जुड़ी प्रतीतियों को – जो बहुत स्पष्ट नहीं होतीं – प्रयोगधर्मी उपन्यासों में रचित प्रति संसार ज्यादा सार्थक एवं प्रासंगिक होता है। परम्परागत उपन्यासों का प्रतिसंसार प्रत्यक्ष संसार का लगभग अनुकरण होता है और आज भी हो सकता है। कारण, परम्परागत उपन्यासकार साहित्य के दर्पणधर्मा मुहावरे में विश्वास करते हैं यानी समाज में जो प्रत्यक्षतः दृश्यमान हैं वही रचना में विवरणात्मक ढंग से कमोबेश प्रस्तुत होता है। इसमें द्वन्द्व एवं विरोध या प्रतिरोध यथास्थिति या यथातथ्यता ही अभिव्यक्त हो पाती है। इसे ***'मृगनयनी', 'बूँद और समुद्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'भूले बिसरे चित्र', 'नयी पौधे', 'विवर्त'*** इत्यादि उपन्यासों में वर्णित दृश्यगत संसार के संदर्भ में समझा जा सकता है।

'प्रतिसंसार के स्वरूप' को प्रयोगधर्मी (आलोच्य) उपन्यासों के आलोक में कहीं अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक ढंग से विश्लेषित किया जा सकता है। सन् 1973 में रचित ***'मरीचिका'*** में उपन्यासकार ने उत्तरांचल के एक इलाके को केन्द्र में रख समाज में फैली ग़रीबी, भूख एवं अश्लीलता को शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान की है। अंधविश्वास और कोरी गप्पबाज़ी में सामान्य मनुष्य अपनी नियति से समझौता करके कैसे नाउम्मीदों की मरीचिका के पीछे निरंतर भागता रहता है, इस उपन्यास से पहली बार चर्चा में आया। इसके पहले या आज़ादी के बाद भी व्यक्ति की ज़लालतभरी ज़िन्दीगी के लिए संभवतः अंधविश्वास और गप्पबाज़ी को कारण नहीं माना गया था। लेकिन देखा जाए तो आरंभ से ही मनुष्य को मनुष्य के रूप में न बने रहने में इनकी भूमिका सदैव महत्त्वपूर्ण रही है। इसी महान गप्प ने ईश्वर, मंदिर, वेद, कुरान का निर्माण किया, जिसमें यह आज भी बँधे रहने के लिए अभिशप्त हैं। गणेश (भगवान) की मूर्ति को दूध पिलाने वाली घटना बहुत पुरानी नहीं पड़ी है। हरिप्रकाश आत्ममंथन करते हुए सोचता है – ''आदिम समाज में जिस आदमी ने लोगों में ईश्वर का विश्वास जमाया होगा, उस आदमी, उस ऋषि ने कितना बड़ा पाप किया जिसने महान गप्प का निर्माण किया, जिसकी सच्चाई जानने की किसी ने कोशिश तक नहीं की। .....उस गप्प की व्यवस्थ इतनी तेज़ी से फैली कि वेदों से लेकर धर्म-ग्रंथों, मंदिरों, गिरिजाघरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों से लेकर दूसरी सामाजिक संस्थाओं को भी उसी के नियमों में बँधना पड़ा।''[8]

रूपक के माध्यम से समाज में फैले अनाचार, अंधविश्वास, ग़रीबी, अश्लीलता का एक प्रतीकात्मक तथा प्रति संसार सृजित हुआ है। रात के अंधेरे में सार्वजनिक पार्क में ग़रीबी, भूख, अनाचार, अश्लीलता का अपना-अपना संसार जीवित होता है – ''अपनी संपन्नता छिपाने की कला में निपुण वह महिला सालों अकेले रहने के कारण पागल न हो जाए इसलिए भी रात को बाहर निकलती थी, दूसरी दुनिया के लोगों से मिलती थी। .... वह बता रही थी कि भयानक से भयानक अपराधी और हत्यारे में भी कहीं मानवीयता बची हुई थी। वे बलात्कार करने वाले होते या औरतों को मारकर उनके ज़ेवर चुराने वाले उन सब में मातृशक्ति के प्रति विलक्षण श्रद्धा भरी हुई थी।''[9]

'एक चूहे की मौत' 1971 में रचित एक प्रतीकात्मक उपन्यास है। इसमें चूहे एवं चूहेख़ाना को आधार बनाकर नौकरशाही और लालफ़ीताशाही के वर्तमान स्वरूप का चित्र खींचा गया है। चूहा प्रतीक है नौकरशाही के आधार उस लिपिक वर्ग का, जो धीरे-धीरे व्यवस्था को कुतर रहा है एवं व्यवस्था को कुतरने के क्रम में उसका अपना जीवन भी संवेदनहीन बन कर रह गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नरेन्द मोहन ने लिखा है – ''फ़ैटेसी शैली में लिखा गया यह एक सशक्त उपन्यास है, जो प्रतीकात्मक रूप में व्यवस्था तंत्र की भयावहता अैर उससे जुड़ी मनुष्य की क्रूर नियति का प्रश्न उठाता है।''[10] संदर्भित उपन्यास में रचित संसार प्रतीकात्मक है। इसमें व्यवस्था की क्रूरता के समक्ष मनुष्यता के लोप का चित्र खींचा गया है। मनुश्य संवेदनहीन मशीन के रूप में निरंतर बदल रहा है। उसकी अपनी इच्छा, आकांक्षा, राग-विराग यानी सबकुछ बँधे-बँधाएं नियम-क़ायदे में जकड़ गये हैं। यहाँ तक कि पात्रों की पहचान नाम से न होकर – क,ख,ग से होती है। एक और समीक्षक की टिप्पणी है – ''चूहेख़ाने में कोई स्वतंत्र नहीं है, किसी को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त नहीं है। तंत्र सबका नियामक है। सब तंत्र के पुर्जे हैं छोटे हो या बड़े। .....पात्रों की नामहीनता – वह, ग, और घ आदि समकालीन जीवन में मनुष्य की स्थिति और अस्तित्व के 'व्यक्ति' के रूप में शेष न रह जाने का प्रतीक है।''[11]

आलोच्य कृति में उपन्यासकार चूहा, चूहेमार और चूहेख़ाना के कार्य-कलाप एवं चिन्तन-मनन के माध्यम से वर्तमान समाज की उन वास्तविकताओं को अभिव्यक्त करता है, जो प्रत्यक्षतः सबसे जुड़ी हैं। एक तरह से पूरी तरह दुनिया चूहेख़ाने जैसी ही है, जिसमें मनुष्य, चूहे की ज़िंदगी जीने को विवश है। किस तरह से मनुष्य धीरे-धीरे अपना 'स्व' भूलकर चूहे में बदल जाता है, इसे 'ग' के चित्र 'चूहेमार' द्वारा समझा जा सकता है – ''चित्र था तो चूहेमार का। पर पहली दृष्टि में यह तसवीर किसी चूहे की लगती थी। फिर ग़ौर से देखने पर तसवीर में 'चूहे-मार' की आकृति उभरने लगती थी। पर यह आकृति ठीक तरह से उभरने भी न पाती की फिर चूहे की आकृति में बदलने लगती।''[12] आधुनिक मनुश्य जीवन के हर मोड़ पर यांत्रिकता, संवेदनहीनता, विडम्बना तथा शोषण का शिकार है – किसी ख़ास व्यवस्था के तहत ही नहीं है। – ''फिर चूहेख़ाने और बाहर की दुनिया में फ़र्क़ ही क्या रहा ..... चूहेमार सिर्फ़ चूहेख़ाने में ही नहीं होते। वे चूहेख़ाने के बाहर भी होते हैं। तभी तो 'ग' ने उससे कहा था कि वह चूहेख़ाने में फिर आना चाहता है।''[13]

रचना का प्रतिसंसार बहुआयामी होता है। जीवन समाज संस्कृति के विविध स्वरूपों की इसमें अभिव्यक्ति होती है। इसकी दुनिया कुरूप, वीभत्स के साथ रंग-बिरंगी छटा लिए भी व्याख्यायित होती है। ***'दिव्या'*** में रचित संसार अप्रमाणिक ऐतिहासिक है। ***'दिव्या'*** में साँस लेती दुनिया का कभी कोई अस्तित्व नहीं था। घटनाएँ, पात्र, वातावरण उपन्यासकार के मानस मन की उपज है। लेकिन रचनाकार की कल्पना वास्तविकता (ऐतिहासिकता) का भान कराती है। कल्पित दिव्या के माध्यम से इसमें एक ऐसा संसार जीवंत हो उठा है, जो हमें वर्षों पूर्व के भारतीय समाज व्यवस्था से परिचित कराता है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, राजा, प्रजा, अमीर-ग़रीब के अन्तर्संबंधों तथा उसमें व्याप्त अमानवीयता का इसमें यथार्थ चित्र खींचा गया है। व्यक्ति की पहचान एवं समाज में स्थान उसकी योग्यता से न होकर, उसके वर्ण से होती है। स्त्री सर्वगुण संपन्न होने के बावजूद पुरूषों के अहं तले बाजुओं के बीच घुटती रहती है। पुरुष अपने स्वार्थ के लिए स्त्री का मान-अपमान करता है। उसके लिए स्त्री, दलित, निर्बल, ग़रीब, लाचार अधिकार एवं सम्मान के पात्र नहीं हैं। पशु एवं स्त्री में भेद नहीं है। दिव्या लाचार, असहाय हालत में जब एक दास व्यापारी के हाथ में पड़ती है तो व्यापारी (पुरुष) उसके बारे में सोचता है – ''यदि प्रसव हो जाने पर सन्तान को दूर कर चार-पाँच मास तक खिला-पिला कर उसे पुष्ट करके बेचा जा सकता तो कोई भी रसिक उसके लिये नेत्र मूँदकर दोनों हाथों से स्वर्ण देता... .।''[14]

शोषण का तंत्र आरंभ से ही बहुआयामी रहा है। राजा, सामंत, सैनिक यानी जिसके पास सत्ता है वह शोषक है। नीच कूल का व्यक्ति सैनिक बनने के बाद अपने ही लोगों का शोषण करता है – ''.....नहीं-नहीं, मूल्य पाये बिना मैं तुम्हें पण्य से न जाने दूँगी। तुम सैनिक बन गये हो तो मुझे इससे क्या? ....तुम जिस सामंत के सैनिक बने हो, जिसकी रक्षा करोगे, उसी से मद्य भी लो। मुझ दीन बुढ़िया को क्यों छलते हो?''[15] प्राचीन सामाजिक व्यवस्था (कमोवेश आज भी) इतनी क्रूर, जटिल एवं रूढ़ है कि राज्य के सबसे शक्तिशाली, योग्य पृथुसेन को भी अपनी जाति एवं जन्म के कारण अपमानित होना पड़ता है। व्यवस्था के सामने वह असहाय स्थिति में सोचता है – ''उस दिव्या को लेकर वह किसी अज्ञात दिशा और देश में जाकर अपने लिये नया स्थान, नया समाज, नया संसार बसा ले; ऐसे देश में जहाँ वह अज्ञात कर्मों के फल से विवश न हो, जहाँ उसे कर्म करने का स्वतंत्र अवसर हो।''[16]

समकालीन संदर्भों एवं प्रसंगों की रोशनी में लिखित ***'सूरज का सातवाँ घोड़ा'*** उपन्यास में निम्न एवं निम्न मध्यवर्गीय जीवन तथा उससे जुड़ी विडम्बनाओं का बेवाक वर्णन है। प्रेम, वासना, ग़रीबी के साथ-साथ व्यक्ति के दोहरे चरित्र के पीछे छिपा हुआ लिज़लिजेपन का भी चित्रण है। आधुनिक सभ्यता का पोषक व्यक्ति का चरित्र है। आधुनिक सभ्यता का पोषक व्यक्ति का चरित्र दोहरा, बिखंडित एवं बिखरा हुआ है। जमुना, उसके मरणासन्न पति एवं रामधन ताँगावाले के बीच का रिश्ता एक वास्तविकता है। जमुना एवं रामधन का संबंध समाज में अस्वीकृत होने के साथ स्वीकृत भी है। वैसे ही जमुना एवं तन्ना, जमुना, तन्ना एवं उनके पारिवारिक रिश्ते भी बाह्य रूप से स्वीकृत होने के बावजूद व्यक्ति के स्तर पर विखंडित है। कहने का आशय यह है कि दृश्यमान या निर्मित दुनिया के बरक्स अनेक संसार एक ही समय में जीवित एवं सक्रिय होते हैं, जो अपने स्वरूप में अच्छे या विकृत हो सकते हैं। प्रतिसंसार का सत्य भी एक यथार्थ होता है, जिसे सामाजिक मर्यादा के तले विश्लेषित करने में रचनाकार कभी संकोच करता था, क्योंकि सृजन का शुभवादी दृष्टिकोण इसकी इज़ाज़त नहीं देता। तन्ना का पिता महेसर दलाल शादी इस लिए करना चाहता है क्योंकि उसके बच्चों के लिए माँ की ज़रूरत है। लेकिन सत्य कुछ और ही है। – ''चूँकि बच्चे छोटे थे, उनकी देख-भाल करने वाला कोई नहीं था, अतः तन्ना के पिता महेसर दलाल ने अपनी यह इच्छा जाहिर की कि किसी भले घर की कोई दबी-ढँकी सुशील कन्या मिल जाये तो बच्चों का पालन-पोषण हो जाये, वरना अब उन्हें क्या बुढ़ापे में कोई औरत का शौक चढ़ा है? राम राम! ऐसी बात सोचना भी नहीं चाहिए।.....''[17] वही महेसर दलाल सत्ती जैसी अल्पायु बालिका के साथ बलात्कार करता है, जिसमें सत्ती का तथाकथित पिता भी शामिल है। ये कुछ ऐसे संसार हैं, जो हमारे आदर्श संसार के प्रतिरूप नये सत्य का उद्घाटन करते हैं।

'घर' एवं 'परिवार' एक आदर्श के साथ-साथ मूल्य भी है। लेकिन इस आदर्श संसार के अंतरत्तम में एक ऐसा संसार सक्रिय है जो कुरूप, घिनौना एवं लाचार है। महेसर दलाल का परिवार इस अनछुए संसार की यथार्थ कथा कहता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन के रिश्ते बेमानी मालूम पड़ते हैं। लिज़लिज़ा तन्ना के मार खाने पर उसकी लंगड़ी बहन ताली बजाकर ख़ूब ख़ुश होती है – ''मझली बहन मारे ख़ुशी के आँगन-भर में घिसलती फिरती

थी और छोटी बहन से कहती थी, ''खूब मार पड़ी। अरे अभी क्या? राम चाहें तो एक दिन पैर टूटेंगे, कोई मुँह में दाना डालने वाला नहीं रह जाएगा। अरी चल, आज मेरी चोटी तो कर दे! आज ख़ूब मार पड़ी है तन्ना को।''[18]

संदर्भित उपन्यास में व्यक्ति, परिवार, समाज एवं उससे जुड़ी विडम्बनाओं का विश्लेषण है। इनके साथ जुड़ा परम्परागत आदर्श जो दृश्यमान एवं सैद्धांतिक है तथा इसके साथ-साथ चलने वाला दूसरा यथार्थ है जो परम्परित आदर्श की मान्यताओं को तोड़ता है। यही प्रतिसंसार जीवन की वास्तविकताओं को उद्‌घाटित कर रचना को यथार्थवादी बनाता है। आदर्श का टूटन वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर हो रहा है। जमुना, अपने भावी पति को देखकर दुखी होती है, वही ढेर सारा गहना देखकर खुश – ''जमुना ने उसे देखा तो बहुत रोयी, जेवर चढ़ा तो बहुत खुश हुई, चलने लगी तो यह आलम था कि आँखों से आँसू नहीं थमते थे और हृदय में उमंगें नहीं थमती थी।''[19] वही जमुना घर में पैसे की सख्त आवश्यकता होने पर उसे छुपा देती है – ''यह सुनते ही घर में सियापा छा गया और जमुना ने झट ट्रंक से नोट की गड्डी निकालकर छप्पर में खोंस दी और जब माँ ने कहा, ''बेटी उधार दे दो!'' तो ताली माँ के हाथ में देकर बोली, देख लो न, संदूक़ में दो-चार दुअन्नियाँ पड़ी होंगी।''[20]

'महाभारत' वाली व्यास शैली में रचित ***'कलि-कथा : वाया बाइपास'*** उपन्यास में किशोर बाबू मारवाड़ियों की पिछली छः पीढ़ियों की चरित्रता एवं समाज-संदर्भ कथा कहने के साथ ही, भारत में अंग्रेज़ों के आगमन एवं आज़ादी तक भारतीय मानस में आएं बदलाव की कथा भी कहते हैं। मारवाड़ी (किशोर बाबू) समुदाय को केन्द्र में रखकर सन् 1757 से 1997 तक के गुजरात से कोलकाता तक फैले उत्तर भारतीय समाज की यथार्थ (अप्रत्यक्ष रूप से) कथा इसमें संवेदनशीलता से सृजित है। इसमें दो संसार है, पहला किशोर बाबू एवं उनकी पीढ़ियों का संसार जो प्रत्यक्ष है तथा दूसरा संसार जो अप्रत्यक्ष है। वह है अंग्रेज़ों के अधीन भारतीय समाज की संघर्ष एवं पश्चिम से प्रभावित यदा-कदा बदलाव की उत्कट इच्छा रखनेवाला विकसित होता विशिष्ट वर्ग। विकसित नया विशिष्ट वर्ग अपनी पुरानी पीढ़ियों की मान्यताओं (विचारों) को मानने के लिए तैयार नहीं होता है। आज़ादी की वर्षगाँठ पर किशोर बाबू रोमांचित है कि उनका पुत्र आज उन्हें 'तिरंगा' भेंट करेगा, लेकिन उन्हें एक नयी स्थिति का सामना करना पड़ता है। जब उनका बेटा किश्तों में चुकाये जाने वाले क़र्ज़ पर, वर्तमान आर्थिक विकास के तरीक़ों के अनुसार, 'फ्रीडम' नामक फ़ोर्ड गाड़ी की चाभी देते हुए सरप्राइज़ देता है तो किशोर बाबू के होश उड़ जाते हैं। वे कहते हैं – ''मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि मारवाड़ियों ने इतना पैसा इसलिए कमाया कि उन्होंने कभी मौज़-मस्ती के लिए क़र्ज़ नहीं लिया, कभी दूसरे के पैसे मारने की नियत नहीं रखी। बाप मर गया तो बेटे ने क़र्ज़ चुकाया, बेटा नहीं चुका पाया तो पोते ने चुकाया मौडर्न बेटा जवाब देता है – इसीलिए तो मारवाड़ी भारत के 'ज्यूज़' कहलाते हैं।''[21] आज़ादी के बाद परिवर्तन एवं विकास की गति इतनी तीव्र रही कि इसने मनुष्य को अकेला कर दिया। किशोर बाबू का पूरा परिवार एक तरफ़ और किशोर बाबू अपने मूल्यों एवं परम्पराओं के साथ अकेले, हताश खड़े हैं। आधुनिक युग में मुनष्य के पास विकल्प का अभाव है, या तो वह धारा के साथ बहते रहे, नहीं तो अकेलेपन का सामना करे। बेटे के बेलाग उत्तर सुनकर किशोर बाबू की स्थिति देखने योग्य है – ''किशोर बाबू ने पड़े-पड़े सारी चहल-पहल सुनी। उनका कोई नहीं। सब एक तरफ़ हैं, और वे एकदम अकेले।''[22]

आज का मनुष्य गंभीर समस्याओं का आसान-सा हल ढूँढकर बस जीवन को कल के लिए सुरक्षित कर लेना चाहता है। वह गंभीर उत्तरदायित्वों से विलग होकर क्षण की खुशियों के लिए भाग-दौड़ कर रहा है। 'क्षणवाद' ने उसके जीवन से शांति एवं स्थायित्व को छीन लिया है। इसीलिए 'संबंधों' की दुनिया में अविश्वास एवं हताशा से वह ग्रस्त है। आलोच्य उपन्यास के समीक्षा में समीक्षक लिखता है – '' 'बाइपास' उपन्यास का शायद बीज शब्द है और वह इंगित करता है आज के 'युगधर्म' की ओर जो मूल समस्याओं से बचकर बगल से सुविधाजनक रास्ते से निकलने का है। उपन्यास इस युगधर्म की विडम्बनाओं को किशोर बाबू के बाइपास आपरेशन के माध्यम से उजागर करता है, जो अन्ततः उन्हें चीज़ों की ओर ले जाता है, जिन्हें उन्होंने अब तब 'बाइपास' कर रखा था।''[23]

'मुरदाघर' उपन्यास में समाज के उस पक्ष का चित्रण है जो गलीज़, अछूत एवं ज़लालत भरा जीवन जीता है। वेश्या, कोढ़ी, भीखमंगे एवं अपंगों का जीवन नाली में पड़े कीड़ों से भी बदत्तर है। ये सभी समाज की मान्य क़ायदे-क़ानूनों से स्वच्छंद हैं। एक तरह से ये सभी मनुष्य होने के बावजूद मनुष्य की श्रेणी से अलग है। धर्म, राजनीति, सत्ता एवं संस्कृति के लिए ये सभी अछूत, एवं उपेक्षित होने के साथ ही प्रताड़ित होने के लिए पैदा होते हैं। पोपट सपना देखता है, उस टैम का इंतज़ार करता है, जब वह भी अमीर बनेगा। तस्करी का माल लाने में वह रेल से कट कर मर जाता है। और पैसे के अभाव में उसकी पत्नी मैना पोपट की लाश को लावारिस छोड़ लौट आती है, एक मुरदाघर से दूसरे मुरदाघर में। पोपट का सपना था – ''अपना ये दिन खतम हो जाएगा। अपुन भी आराम से रहेंगा हाजी शेठ का माफक। ....जो सोचा वो सब भूल जाऊँ? तो क्या सोच के जिन्दा रहूँ?''[24] कोढ़ से गलती देह लिये भीख माँगती रोज़ी को जिलाए हुए है – एक प्रतीक्षा। उसे तलाश है अपने मर्द की एक सहारे की। ''जो अउरत लोक कू मरद होता ....वो भोत नसीबवाला होता.....।[25] यह समाज की त्रासद एवं विडम्बनापूर्ण तस्वीर है। और इस त्रासद विडम्बना के प्रश्रय देने का कार्य हर तरफ़ से होता है। ज़िन्दगी की इस कुत्ता फज़ीहत में सभी भयावह रंग असहय गंध, वीभत्स रस और झकझोरने वाली यातनाएँ हैं। और इस यातना में ईश्वर भी शामिल है – ''अंधा है अल्ला भी। रण्डी का धंधा करनेवाली कू दे दिया बच्चा।''[26]

'अपना मोर्चा' उपन्यास में काशीनाथ सिंह समाज में फैली गलाज़त एवं जटिलताओं और उनके कारणों को बेबाक ढंग से पर्दाफ़ाश करते हैं। इसमें मूल रूप से

शिक्षा-व्यवस्था में भ्रष्टता, संवेदनहीनता एवं नपुंसकता को उजागार किया गया है। युवकों को जीने की छूट तभी तक है जब तक वह जीवन की सच्चाई के विषय में सवाल न करके व्यवस्था के भ्रष्टाचारी तंत्र का अंग बनने का सपना देखते हैं। इसमें समाज के उस विडम्बनात्मक एवं संवेदनहीन स्वरूप का चित्रण है जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति एवं समाज के बीच संबंध त्रासद स्थिति तक पहुँच गया है। आपस में कोई संवेदनात्मक लगाव नहीं है, सभी अपने-अपने स्वार्थों के संसार में उलझे हैं। अंग्रेज़ी के विरोध में लड़के गोली खा रहे हैं तो अध्यापक महोदय अंग्रेज़ी विरोधी भाषा आन्दोलन पर लेख लिखकर सौ-डेढ़ सौ कमा लेने के चक्कर में हैं। और अंग्रेज़ी में भाषण देकर अपनी विद्वत्ता साबित करना चाहते हैं। बाहर छात्र आन्दोलन कर रहे हैं, गोलियाँ खा रहे हैं और अंदर सूट एवं टाइयों की महफिल सजी है। ''एक खुशबू..... लगातार ठहाके। सैकड़ों लड़के जेल में हैं, सैकड़ों अस्पताल में, रहे-सहे स्टेशन पर और यहाँ ठहाके।.....मेरे अगल-बग़ल और आगे-पीछे बातें हो रही हैं.... साकेत कॉलोनी में कितने प्लाट बिकाऊ है। .....इस सूट का कपड़ा कहाँ लिया था.... ।[27]

'कसप' उपन्यास में मध्यवर्गी समाज को पूरे राग-बोध के साथ अभिव्यक्त किया गया है। यह एक ऐसा समाज है जो अपनी आँचलिक संस्कृति से बँधे होने के साथ ही बाह्य प्रभावों से भी परिचित है। इसमें एक प्रेम कहानी के माध्यम से कुमायँनी रीति-रिवाजों तथा बाहर की दुनिया की हलचलों को स्वीकार करता है। डी.डी. एवं गुलनार की दुनिया, जिसमें स्वच्छंदता एवं सहजता है, वही कुमायूँनी समाज मान-मर्यादाओं से बद्ध है। बेबी की शादी शास्त्री परिवार डी. डी. से इसलिए नहीं करना चाहते हैं क्योंकि डी. डी. एक ऐसे खानदान से संबंधित है, जो कभी सामाजिक रूप से बहिष्कृत था। रीति-रिवाजों एवं परम्परओं से पूरा समाज संचालित होता है। व्यक्ति का विवेक एवं तर्क की कोई जगह नहीं है। श्वसुर गृह में भात न खाने के कारण कभी बेबी के पिताश्री शास्त्री जी की बारात लौट आई थी और बात रखने के लिए उसी तिथि पर एक अपरिचित निर्धन कन्या से विवाह संपन्न हुआ था। परम्परागत समाज दोहरेपन का शिकार है। एक तरफ़ – ''जो पैतृक आदेश का पाालन करते हुए कभी नहीं खाएगा। उसकी माता द्वारा बनाया गया भात, किन्तु जो उसी आदेश के अन्तर्गत अब भोगेगा उस किशोरी के मुख....''[28]

इसमें कुमायूँनी समाज की संस्कृति अपनी भाषा में पूर्ण रूप से उपस्थित है। कुमायूँनी विवाह पद्धति के विस्तृत ब्यौरा का विवरण लेखक देता है, जो अपने पूर्णहास्य एवं रंग के साथ उपस्थित है – ''उन्होंने ठ्या के दीवार की लौ ठीक की, बहुत अदा से अपने सिर पर पल्लू ठीक किया, न्यौछावर की अक्षतों से फिर तिलक लगाया मुस्कारते हुए यह पूछकर, ''छोटा-छोटा लगाऊँ, बड़ा-बड़ा?'' फिर वर और वधू दोनों की हथेलियों में कुछ नोट च्याप दिये। बबली 'दी की ऐसी रिश्तेदारी नहीं कि मुनड़ी या कोई और ज़ेवर अथवा सूटलैंग्थ या साड़ी दें.... ।[29] परम्परागत समाज के प्रति हमारी अब तक यह मान्यता रही है कि वह भावनात्मक एवं आदर्शवादी होता है, लेकिन ऐसा नहीं है वह जितना भावनात्मक एवं आदर्शवादी होता है, उतना ही यथार्थवादी एवं उपयोगितावादी भी होता है। ये सभी बातें उनके रीति, रिवाज, परम्पराएँ एवं मूल्यों में भी हम आसानी से ढूँढ़ सकते हैं। बबली दी वर-वधू को कुछ पैसे मात्र इसलिए देती हैं कि उनसे उनका रिश्ता बहुत नज़दीक का नहीं है। यहाँ औपचारिकता का निर्वाहन है, भावना का प्रवाह नहीं। सामाजिक संरचना की बनावट में सब कुछ निर्धारित है। सबके लिए कर्तव्य एवं भूमिका का विभाजन पूर्ण उपयोगितावादी तर्क पर आधारित है। समाज इस हद तक यथार्थवादी है कि परिवार का अगर कोई सदस्य किसी अछूत बीमारी से ग्रसित हो जाता है तो उसे समाज से बाहर शेष जीवन काटने के लिए अभिशप्त कर दिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था के संचालन के क्रम में उपस्थित होने वाली प्रत्येक अप्रिय स्थिति को समाज कठोरता एवं क्रूरता से उसे अलग कर देता है।

परम्परागत समाज में वैयक्तिक स्वतंत्रता बहुत सारे बंधनों से युक्त होती है। सामूहिक स्वतंत्रता भी सीमित होती है। समूह-समूह के बीच संबंध परम्पराएँ एवं मूल्यों द्वारा निर्धारित होता है। प्रेम एवं चयन की स्वतंत्रता न व्यक्तिगत जीवन में संभव है और न ही सामूहिक जीवन में। 'प्रेम' के माध्यम से हम किसी भी समाज की संस्कृति एवं संरचना को समझ सकते है। कह सकते हैं कि प्रेम (स्त्री-पुरुष के बीच) वह प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से हम समाज एवं उनके रिवायातों के बारे में समझ विकसित कर सकते हैं। जैसे जिस समाज में 'चयन की स्वतंत्रता' होती है, वहाँ हम मान सकते हैं कि वह समाज एवं संस्कृ ति विकसित एवं उदार है। कुमायूँनी समाज द्वन्द्व से गुज़र रहा है पुराने रीति-रिवाज, मान-मर्यादा को आधार बनाकर स्वतंत्र चयन की अनुमति नहीं देता है। वही बाह्य से प्रभावित लोग इससे छुटकारा पाना चाहते है। बेबी के पिता कि विवशता विचारणीय है –''शास्त्रीय जी ने इस बच्ची को देखा और पूछा अपने से कि बच्ची से कैसे कहा जाता है तू अब केवल स्त्री है। और अगर कह दिया जाता है ऐसा, तो फिर यह कैसे कहा जाता है कि यही वयस्कता तेरी स्वतंत्रता का हनन करती है। ....। और स्त्री। तू कभी ऐसी स्त्री हो नहीं सकती कि अपने मन की कर सके। बच्ची-स्त्री, तू अपने को स्त्री जान; स्त्री बच्ची . ... ।[30] ऐसे समाज में व्यक्ति का अपना कुछ नहीं होता है। वह स्वतंत्र होकर व्यक्त भी नहीं हो सकता है। डी. डी. अपमानित एवं उपेक्षित होने पर आत्मविश्लेषण करते हुए कहता है – ''कुछ समझ में नहीं आता। क्या इसलिए हम जो भी होते हैं कुल मिलाकर वही, उतना ही होते हैं जो हमारे पैतृक गुणसूत्र, पारिवारिक संस्कार और प्रारम्भिक अनुभव हमें बना देते हैं? उसके बाद जो भी होता है, जीवन-चरित्र नहीं, मात्र जीवन-वृत्त होता है?'' और अंततः इस प्रेम की परिणति अलगाव में होती है। सारी सामाजिक बाधाओं को पार कर लेने के बावजूद मन एवं अहं की बाधाओं से मुक्ति नहीं मिलती है।

'नर नारी' उपन्यास में सारे संबंध विवाहेतर है। तथा संबंधों का आधार 'काम' है। नर-नारी संबंध एवं टकराव, नारी मुक्ति, सामाजिक विभेद, बेटा-बेटी में अंतर, परिवार का टूटन आदि समस्याओं का जड़ यौन है। स्त्री-पुरुष के यौन संबंध ही उसके सारे रिश्ते, व्यवहार, समाज के प्रति दृष्टिकोण को तय करते हैं। इसमें सेक्स के सामाजिक निहितार्थ है। भारतीय समाज में काम कुण्ठाओं और यौन शुचिता के बीच जो द्वन्द्व है, सूअर के प्रसंग में विशदता के साथ लेखक ने उभारा है। ऊपर से हम शुचिता के पक्षधर हैं तो मानसिक तौर पर हम खुलकर खेलने में संकोच नहीं करते और भारतीय जीवन की धुरी-धर्म का भी हम खुल कर निःसंकोच उपयोग करते हैं। आश्रमवासी स्वामी बेबस औरतों का उपभोग करने के साथ ही देह-व्यापार भी करवाते हैं।

'बाँझ माँ' जी सामान्य स्त्री नहीं है। वे बेबाक एवं बिन्दास हैं। अपनी इच्छाओं को कुण्ठित नहीं होने देती है।लेकिन इस बेबाकीपन के बाबजूद वे परिवार एवं विवाह के बंधन को तोड़ती नहीं है। पारिवारिक एवं वैवाहिक मर्यादा का वे पूरी तरह निर्वाह करते हुए, विद्रोह करती हैं। नपुंसक पति को स्वीकार करके भी अस्वीकार कर देती है और आवरण के तले पर पुरुषों के संसर्ग में आती-जाती रही हैं। वही सीमा भी सूअर के साथ रहने के बावजूद सागर के साथ हम बिस्तर होती है। माँ जी कहती है। ''क्या पाप क्या, पुण्य, मेरा मन साफ़ मैंने धर्म निभाया पर्दे डाले जो किया पर्दे में न करती तो वैसे मर जाती मैंने उसकी सेवा की।[31] बाँझ माँ जी सेवा एवं धर्म दोनों का निर्वाह करती है। सामाजिक मर्यादाओं के आवरण में। पाप-पुण्य की उनकी अपनी परिभाषा है जो तार्किक एवं व्यावहारिक है।

हमारे समाज में बाँझ को हिकारत की नज़र से देखा जाता है। यह सामाजिक विडम्बना ही है कि हम बाँझ के साथ माँ का सम्बोधन जोड़ देते है। बाँझ भी और माँ भी यानी दोतरफा व्यंग्यात्मक उपेक्षा एवं अपमान स्त्री को झेलना पड़ता है। पुरुष समाज यह स्वीकार नहीं कर सकता है कि वह निर्बल या असमर्थ है। निर्बल एवं असमर्थ होने का दायित्व केवल स्त्री पर ही है। वह थोपे एक संस्कारों से सदैव लड़ती रही – ''अब तरीक़े से।''[32] स्त्री के बारे में यह माना जाता है कि ''ग़लती तो हमेशा औरत से ही होती है। मर्द तो हमेशा मेहरबानी ही करता है।''[33] घर, जिसकी बुनियाद प्रेम एवं त्याग है, में भी भेद-भाव की एक परम्परा है, जिसे हम मूल्य कहने में भी संकोच नहीं करते हैं। घर में ''करोड़ों लड़कियाँ माँ-बाप की निराशा की परछाई में जैस-तैसे पल कर बड़ी होती है अन्याय का शिकार होती है। अपने भाइयों से कम खाती हैं कम पाती हैं तरह-तरह के ताने सुनती हैं।''[34]

अध्ययन का उद्देश्य

पारंपारिक हिंदी उपन्यासों में मनुष्य के बाहरी दुनिया का चित्रण किया जाता था । सारे मानवीय संबंध की सुविधाएं समस्याएँ और विडंबनाए मानव जीवन के यथार्थ के बाहरी परतों का स्पर्श करके निकल जाती थी प्रयोगधर्मी उपन्यासों में वैश्वीकरण के उपरांत उत्पन्न तमाम तरह की जटिलताओं अंर्तद्वन्द्व एवं अकेलपन को एक नई भाषा एवं शिल्प में पुनः सृजित किया गया, जिसके कारण आज का मानव एवं यथार्थ संसार, रचनात्मक सृजित संसार से संवाद बनाकर, परिस्थितियों की विडम्बनाओं से राहत एवं सुकून महसूस कर सके, और रचनाओं को अपने अंन्तर्मन के समीप पाकर अपना विरेचन कर सकें ।

निष्कर्ष

समकालीन प्रमुख प्रयोगधर्मी उपन्यासों के विश्लेषण से यह तस्वीर साफ हो रही है कि इनमें माननीय जीवन के अंन्तर्तम में छुपे विडम्बनाओं एवं जटिलताओं को कुछ हद तक अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास हुआ है। औद्योगिकरण नव उदारवाद एवं वैश्वीकरण की आंधी में मनुष्य का अपना मनुष्यत्व, संवेदना, स्वाभिमान यानी उसका अपना 'स्व' कहीं खो गया। प्रयोग धर्मी उपन्यासों में खोए हुए 'स्व' की तलाश करके उसे पूरी सत्यता के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *एक चूहे की मौत–नदी उज्जमा, राजकमल प्रकाशन पृष्ठ संख्या दिल्ली–197*
2. *मरीचिका–गंगा प्रसाद विमल, हिमालय पुस्तक भंडार, नंबर दिल्ली 1973*
3. *मुर्दाघर–जगदंबा प्रसाद दीक्षित, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 1997*
4. *नर नारी–कृष्ण बलदेव वैद, राज्यपाल एंड सनस दिल्ली 1996*
5. *कसय–मनोहर श्याम जोशी, राजकमल प्रकाशन पेपर बैंक संस्करण 1996*
6. *हमजाद–मनोहर श्याम जोशी किताब घर दिल्ली 1996*
7. *अपना मोर्चा, काशीनाथ सिंह, रचना प्रकाशन इलाहाबाद–19972*
8. *कलि कथा वाया बाईपास–अलका सरावगी राजकमल प्रकाशन– 1998*
9. *दिव्या–यशपाल लोकभरती इलाहाबाद विद्यार्थी संख्या 2000*
10. *आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ– गंगा प्रसाद विमल, द मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया ––(लि.) पृष्ठ संख्या 1993*
11. *हिंदी उपन्यासों में प्रतीकात्मक शिल्प, सुशीला शर्मा सिद्धि राम पब्लिकेशन, दिल्ली 1982*
12. *दस्तावेज, अप्रैल–जून 2004 संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी*

अंत टिप्पणी

1. *एक चूहे की मौत, पृ.20*
2. *'दुनिया रोज़ बदलती है', पृ.20*
3. *सूरज का सातवाँ घोड़ा, पृ.99*
4. *मरीचिका, पृ.102*
5. *दिव्या, पृ.147*
6. *हमज़ाद, पृ.49*
7. *एक चूहे की मौत, पृ.82*
8. *मरीचिका, पृ.97*
9. *वही, पृ.56*
10. *आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ, पृ.132*
11. *हिन्दी उपन्यास में प्रतीकात्मक शिल्प, पृ.383*

12. *एक चूहे की मौत, पृ.63*
13. *वही, पृ.66*
14. *दिव्या, पृ.110*
15. *वही, पृ.52*
16. *वही, पृ.47*
17. *सूरज का सातवाँ घोड़ा, पृ.48*
18. *वही, पृ.50*
19. *वही, पृ.36*
20. *वही, पृ.37*
21. *कलिकथा : बाया बाइपास, पृ.199*
22. *वही, पृ.204*
23. *दस्तावेज़, पृ.103/अप्रैल–जून, 2004, पृ.61, इन्दु प्रकाश पाण्डेय*
24. *मुरदाघर, पृ.170*
25. *वही, पृ.65*
26. *वही, पृ.133*
27. *अपना मोर्चा, पृ.10*
28. *कसप, पृ.186*
29. *वही, पृ.147*
30. *वही, पृ.145*
31. *नर नारी, पृ.94*
32. *वही, पृ.87*
33. *वही, पृ.207*
34. *वही, पृ.149*